शिक्षा और संचार-साधनों की भूमिका

☐ प्रो० दुर्गाप्रसाद अग्रवाल
(स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, सिरोही)

प्रायः यह कहा और माना जाता है कि संचार के आधुनिक साधन शिक्षा-प्रचार के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन हैं। रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा और मुद्रित सामग्री (पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएँ आदि) को इस बात का श्रेय दिया जाता है कि ये अब अधिक लोगों तक शिक्षा, ज्ञान, नैतिक मूल्यों आदि को पहुँचा रहे हैं। निश्चय ही ये सब साधन किसी भी बात का बृहत्तर समुदाय तक पहुँचाने की क्षमता रखते हैं, परन्तु यदि जरा गहरे में जाकर इस बात की पड़ताल की जाये कि संचार के ये आधुनिक साधन हमारे देश में बृहत्तर समुदाय तक कौन-सा ज्ञान, कौन-सी शिक्षा और कौन-से नैतिक मूल्यों की बात पहुँचा रहे हैं तो बड़े चौंकाने वाले तथ्य सामने आयेंगे।

भारत में आजादी के तीन दशकों के बाद भी अर्द्ध-साक्षरता तक की स्थिति नहीं आ पाई है, शिक्षा तो बहुत दूर की बात है। प्रौढ़ शिक्षा के सारे हो-हल्ले के बावजूद गाँवों में ही नहीं, शहरों तक में एक बड़ा वर्ग ऐसे लोगों का है जिनके लिए 'काला अक्षर' वास्तव में 'भैंस बराबर' है। ऐसे लोगों के लिए लिखित या मुद्रित शब्द कोई अर्थ नहीं रखता। हमारी जनसंख्या का यह और शेष में से भी बड़ा भाग अपने जीवन, व्यवसाय, नागरिकता, नैतिकता आदि से सम्बद्ध मूलभूत बातों तक से अनभिज्ञ है। इस समुदाय तक इन बातों को पहुँचाने का एक महत्त्वपूर्ण साधन रेडियो हो सकता था परन्तु हम अपनी 'आकाशवाणी' के अतीत और वर्तमान पर दृष्टिपात करें तो यह त्रासद तथ्य सामने आता है कि यह महत्त्वपूर्ण साधन अपनी भूमिका के निर्वाह में असफल रहा है। आकाशवाणी वाले इस बहस में तो उलझे हैं कि वे अपने प्रसारणों में हारमोनियम को स्थान दें या न दें, उन्हें यह चिन्ता तो हुई है कि उनके प्रसारण लोकप्रियता में रेडियो सीलोन का मुकाबला क्यों नहीं कर पाते हैं, उन्होंने दूर-दराज के मुल्कों में हुए क्रिकेट मैचों के सीधे प्रसारण पर अपना धन व शक्ति तो खर्च की है; पर अपने श्रोताओं को शिक्षित करने में इनके अनुपात में बहुत ही कम रुचि ली है। कहने को तो आकाशवाणी से स्कूल प्रसारण, महिला जगत्, ग्रामीण भाइयों का कार्यक्रम, युवा-वाणी आदि 'शिक्षा-प्रद' कार्यक्रमों का नियमित प्रसारण होता है पर अपनी स्तरहीनता और 'बेगार काटू' प्रस्तुतिकरण के कारण ये कार्यक्रम श्रोताओं में जरा भी लोकप्रिय नहीं हो पाये हैं। हमारी आकाशवाणी के दो सर्वाधिक लोकप्रिय केन्द्र हैं—विविध भारती और उर्दू सर्विस। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों ही केन्द्रों की लोकप्रियता का कारण इनकी फिल्म-संगीत निर्भरता है। चुनाव के दिनों में परिणाम बुलेटिनों व टेस्ट मैचों के दिनों में कमेण्ट्री को छोड़कर आकाशवाणी के शेष कार्यक्रम शायद ही कोई सुनता हो, यहाँ तक कि समाचार भी 'अमुक मन्त्री ने कहा है' शैली के कारण नितान्त रुचिहीन होते हैं, इनकी विश्वसनीयता और नवीनता का यह हाल है कि भारत का श्रोता भारतीय समाचारों के लिए बी० बी० सी० सुनना पसन्द करता है और राजस्थान के प्रादेशिक समाचार स्थानीय समाचार-पत्रों में प्रकाशन के बारह घण्टे बाद आकाशवाणी जयपुर से प्रसारित होते हैं। एक ओर वास्तविक ज्ञानवर्द्धक कार्यक्रमों का अभाव, नीरस प्रस्तुतिकरण और दूसरी ओर फिल्मी गीतों की भरमार। फिल्मी गीतों से क्या शिक्षा मिलती है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। उस दुनिया में एक ही समस्या है—प्रेम, और एक ही समाधान है—लड़के-लड़की का मिलन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यही बात दूरदर्शन के बारे में भी है। इनके दो सर्वाधिक लोकप्रिय कार्यक्रम हैं—'चित्रहार' व 'फूल खिले हैं गुलशन-गुलशन।' ये दोनों ही कार्यक्रम पूर्णतः फिल्मों पर आश्रित हैं। शेष कार्यक्रम प्रस्तुत करना दूरदर्शन वालों की विवशता भले ही हो, दर्शक उनको देखकर न तो बोर होना चाहते हैं, न बिजली और समय की बर्बादी करना। दूरदर्शन वाले भी सत्ताधीशों की छवि उभारने के प्रयत्न में इतने ज्यादा डूबे रहते हैं कि शेष बातों की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। वैसे भी साइट के अल्पकालीन अनुभव के अतिरिक्त दूरदर्शन अब तक बहुत छोटे से वर्ग तक पहुँच पाया है। हम अब रंगीन टेलिविजन प्रसार के लिए तो उत्सुक हैं पर समाज-निर्माण की ओर इसे उन्मुख करने की कोई चिन्ता आभासित नहीं रही है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि हमारे देश में इन दोनों ही माध्यमों पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण व एकाधिकार है। कुशल और सुचिन्तित उपयोग के अभाव में ये माध्यम अपनी वांछित भूमिका में प्रयुक्त नहीं किये जा सके हैं, जनता को शिक्षित करना तो दूर रहा, ये साधन सरकारी नीतियों तक का सही प्रचार नहीं कर पाये हैं। यों, रेडियो हमारे यहाँ खूब लोकप्रिय हुआ है, विशेषतः ट्रांजिस्टर-क्रान्ति के बाद से; और नव-धनिक वर्ग तक टेलीविजन भी पहुँच ही गया है, परन्तु जो कुछ इन दोनों ने सिखाया है उसको देखकर तो यही कहना पड़ता है कि अच्छा होता अगर हमारे यहाँ ये दोनों ही नहीं होते, तब कम से कम हमारे बच्चे 'आज मैं जवान हो गई हूँ', 'मुझको ठण्ड लग रही है, मुझसे दूर तो न जा', 'हम तुम एक कमरे में बन्द हों', 'किवड़िया न खड़काना' जैसे भौंडे गीत तो न अलापते।

भारत जैसे अशिक्षित-बहुल देश में संचार का तीसरा महत्त्वपूर्ण साधन है—सिनेमा। इसके एक अंश पर सरकार का लगभग पूरा नियन्त्रण है और दूसरे पर अमीर व्यापारियों का। वृत्तचित्र (डाक्यूमेण्ट्री) निर्माण लगभग पूरी तरह सरकार के हाथों में है, उसका प्रदर्शन भी वह अनिवार्यतः सिनेमाघरों में करवाती है परन्तु अपने नीरस प्रस्तुतिकरण के कारण यह भी दर्शकों को आकृष्ट व प्रभावित करने में असमर्थ हैं। इसके अतिरिक्त, इनकी वितरण व्यवस्था भी दोषपूर्ण है। इनका समय पर प्रदर्शन नहीं हो पाता है। परिणाम यह होता है कि जब चीन भारत पर हमला करता है तो सिनेमाघर में 'हिन्दी चीनी भाई-भाई' के स्वर गूँजते हैं, जब परिवार नियोजन वाले 'हम दो हमारे दो' की बात कहने लगते हैं तो सिनेमा में 'दो या तीन बच्चे' की बात कही जा रही होती हैं। कस्बों के सिनेमाघर प्रायः वृत्तचित्र दिखाते ही नहीं हैं और जन सम्पर्क विभाग जैसी सरकारी एजेन्सियाँ इनको अलमारी में बन्द रख सन्तुष्ट हो लेती हैं।

जहाँ तक कथाचित्रों का प्रश्न है, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ये व्यावसायिक निर्माताओं की देन हैं और इनके निर्माण का उद्देश्य समाज सुधार या शिक्षा-प्रसार न होकर महज मुनाफा कमाना है। इसके अतिरिक्त, यह भी याद रखना है कि फिल्मों की अर्थव्यवस्था बहुत हद तक काले धन पर आधारित है। और जो लोग इस व्यवसाय से जुड़े हैं उनका नैतिकता आदि शब्दों में जरा कम ही विश्वास है। परिणाम स्पष्ट है, हमारी फिल्में न किन्हीं मूल्यों का निर्देशन करती है न किन्हीं आदर्शों का प्रचार। इनमें तस्कर व्यापारी ही पूर्ण पुरुष होता है और वेश्या ही पूर्ण नारी। अपराधियों के चरित्र को कुछ इस तरह से ग्लेमराइज किया जाता है कि वे घृणा या दया के पात्र लगने की बजाय अनुकरणीय लगने लगते हैं। शायद यही कारण है कि फिल्म देखकर अपराध करने की घटनाएं प्रायः घटित होती हैं। कहने को हमारे यहाँ एक सेन्सर बोर्ड भी है पर उसकी अपनी सीमाएँ हैं। प्रभावशाली लोगों की फिल्मों में काट-छांट करने की ताकत उसमें नहीं है। उसकी भूमिका महज यह है कि वह फिल्मों में पुलिस के सिपाही के रिश्वतखोर रूप के चित्रण को रोकता है, चुम्बन के प्रदर्शन पर रोक लगाता है। यह बात अलग है कि चालाक निर्देशक उसकी आँखों में धूल झोंककर अधिक अश्लील ढंग से संभोग का भी विस्तृत चित्रण कर जाता है। यदि भूले-भटके कोई निर्माता यथार्थवादी, आदर्शवादी, उद्देश्यपूर्ण फिल्म बना भी डालता है तो वह इन रंगीन, विलासितापरक फिल्मों के सामने टिक नहीं पाती हैं। व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा के रहते उसे थियेटर नहीं मिल पाता, कोई सरकारी समर्थन नहीं मिलता और इस तरह अन्य लोगों का मनोबल भी टूटता जाता है। कुल मिलाकर स्थिति यह है कि हमारी फिल्में अगर कोई शिक्षा दे रही हैं तो वह हिंसा, नग्नता, मूल्यहीनता, विलासिता, बेईमानी, अपराध आदि की शिक्षा है।

यह तो हुई रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा की बात, जिन पर पूर्णतः या अंशतः सरकारी नियन्त्रण है। आइये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब मुद्रित शब्दों की दुनियाँ का भी जायजा लें। मुद्रित शब्द अपने किसी भी रूप (समाचार-पत्र, पत्रिका, पुस्तक) में देश के बड़े जन समुदाय तक नहीं पहुँच पाया है। इसका कारण अशिक्षा ही नहीं, लोगों की गरीबी भी है। इसके अतिरिक्त इस स्थिति का दायित्व मुद्रित सामग्री विरोधी प्राथमिकताओं और दोषपूर्ण एवं उपभोक्ता-विरोधी वितरण व्यवस्था पर भी है। जो लोग दो वक्त की रोटी तक जुटा पाने की हैसियत नहीं रखते हैं वे पुस्तक-पत्रिकाएँ क्योंकर खरीद सकते हैं? जो लोग खरीदने की कामना रखते हैं वे किताब खरीदने की बजाय एक और कमीज सिलवाना या सिनेमा देखना या ऐसा ही कोई और उपयोग अपने पैसे का करना पसन्द करते हैं। इस तरह लोगों की प्राथमिकता सूची में पुस्तकों-पत्रिकाओं का स्थान बहुत नीचे आता है। जो लोग इन दोनों ही बाधाओं को पार कर पुस्तक खरीदने निकल ही पड़ते हैं, उनको वह पुस्तक मिलती नहीं जो वे पढ़ना चाहते हैं, या जो उन्हें पढ़नी चाहिए। भारतीय प्रकाशक वैयक्तिक पाठक के लिये पुस्तक व्यवसाय नहीं करता है। उसकी रुचि पुस्तकालयों की थोक बिक्री में ही है। उनके लिए वह तीस प्रतिशत कमीशन का प्रावधान भी रखता है, इस तरह प्रकाशक जो पुस्तक पाठक को नकद भुगतान पर पचास रुपये में बेचता है वही पुस्तक वह पुस्तकालयों को उधारी पर पेंतीस रुपये में बेच देता है. लाइब्रेरियन का कमीशन, व्यापारी का मुनाफा, ब्याज, खर्चा ये सब तो है ही। यदि वह चाहे तो पचास रुपए वाली पुस्तक ग्राहक को सीधे, बिना किसी बिचोलिये के बीस-पच्चीस रुपए में बेच सकता है, पर वह बेचना चाहता ही नहीं। जब पुस्तकालयों को लूटकर उसका काम आसानी से चल रहा है, उसका धन्धा फल-फूल रहा है तो वह एक-एक पुस्तक के ग्राहक पर क्यों श्रम करे? उन ग्राहकों के लिए उसने पाकेट बुक्स के प्रकाशन का धन्धा चला रखा है, विदेशों में भले ही पाकेट बुक्स में गम्भीर पुस्तकें प्रकाशित होती हों, हमारे यहाँ पाकेट बुक्स रोमांटिक व अपराध साहित्य का पर्याय बन चुकी है। प्रत्येक प्रकाशक के पास अपने कुछ ट्रेडमार्की लेखक हैं जो घुमा-फिराकर फार्मूलाबद्ध लेखन करते रहते हैं। इन पुस्तकों की वितरण व्यवस्था भी बहुत अच्छी है। किसी भी शहर कस्बे, गांव के रेल या बस स्टेण्ड पर आपको ये किताबें मिल जायेंगी। इस तरह हमारा प्रकाशक सीधे-साधे वह बेच रहा है जो वह बेचना चाहता है, अगर वह प्रेमचन्द, यशपाल निराला को नहीं बेचना चाहता तो आप उसका कुछ नहीं कर सकते।

इधर कुछ वर्षों से राजनीति की भीतरी कथाओं के लेखन-प्रकाशन की एक नई प्रवृत्ति उभरी है। इस लेखन को गम्भीर राजनैतिक विश्लेषण की अपेक्षाओं के साथ नहीं पढ़ा जाना चाहिए। वास्तव में यह राजनीति, कामशास्त्र और किस्सागोई का अजीब-सा मिश्रण है। इस लेखन में मृत राजनेताओं के बारे में कुछ भी लिख देने की एक नई नैतिकता और विकसित हो रही है। कुछ लेखकों और प्रकाशकों ने इसमें भी खूब कमाया है। पाठक की परवाह किसको है? घोड़ा घास से यारी करे तो ... ?

समाचार पत्रों की दशा भी इनसे भिन्न नहीं है। उनमें मन्त्रियों के बासी भाषण, मिथ्या घोषणाएँ या अपराध की सनसनीखेज खबरें तो मिलेंगी पर आम आदमी नदारद मिलेगा। किसी अति महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के जुखाम पर डाक्टरी बुलेटिन तो होगा पर बस दुर्घटना में मरे व्यक्तियों के नाम गायब होंगे। अपराध का विस्तृत वर्णन तो होगा पर उनको मिलने वाली या मिली सजा का ब्योरा देने की आवश्यकता नहीं समझी जायेगी। यह तो प्रान्तीय और राष्ट्रीय समाचार पत्रों की स्थिति है। स्थानीय समाचार पत्रों के बारे में तो कुछ भी कहना अनावश्यक है। उनका एकमात्र उद्देश्य अपने स्वामियों का भरण-पोषण ही होता है। इनकी भूमिका ब्लेक-मेलिंग की श्रेणी में आती है।

पिछले कुछ वर्षों से हमारे यहाँ जिस तरह से पत्रिकाओं की बाढ़-सी आई है उससे यह समझने का भ्रम हो सकता है कि लोगों में पढ़ने की न रुचि का विकास हुआ है, लेकिन सही स्थिति यह है कि ये पत्रिकाएँ पाठकों की रुचि और माँग का नहीं, प्रकाशकों की मुनाफाखोर मनोवृत्ति का परिणाम है। आज हमारी पत्रिकाओं में अपराध, रहस्य, रोमांच, भ्रष्टाचार, ऐयाशी, नग्नता, अश्लीलता आदि का अनुपात बढ़ता ही जा रहा है। अदालतों से ली गई मुकदमों की तफसील के आधार पर अपराध कथाओं की इन दिनों इतनी भरमार है कि पुरानी पत्रिकाएँ अपर्याप्त सिद्ध हो रही हैं, नई-पत्रिकाओं के प्रकाशन की अनिवार्यता उपस्थित होती जा रही है। दल-बदल भी तेजी से हो रहा है। छठे दशक में नई कहानी के विकास में अहम् भूमिका निबाहने वाली पत्रिकाएँ भी आज रहस्य-रोमांच व अपराध को समर्पित होती जा रही हैं। बड़ी ग्राहक संख्या वाली शालीन पत्रिकाएँ भी धीरे-धीरे बड़ी चालाकी से भूत-प्रेत की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथाएँ, ठगी की कहानियाँ आदि छापकर जैसे पिछले दरवाजे से इस अपराध जगत् में स्थान बनाने का प्रयत्न कर रही हैं। एक ओर कुछ वर्षों में ज्ञानोदय, माध्यम, कहानी, स्टेट्स बेस्ट जैसी स्तरीय पत्रिकाएँ बन्द हुई है तो दूसरी ओर इन पत्रिकाओं ने खूब कमाई कर अपना विस्तार किया है। यही हाल फिल्मी पत्रिकाओं का भी है, इनमें फिल्मों की स्वस्थ आलोचना और फिल्म कला पर गम्भीर लेखों के बजाय फिल्मी सितारों के कपड़ों के नीचे और शयन कक्षों के भीतर झांकने का सीधा प्रयत्न होता है। यही हाल राजनीतिक पत्रिकाओं का भी है, किस मन्त्री या उसके बेटे ने किस लड़की के साथ कब किस तरह का व्यभिचार किया, इसका सचित्र, विस्तृत विवरण ही इन पत्रिकाओं का एकमात्र विषय रह गया है।

आखिर यह सम्पूर्ण परिदृश्य हमें किन निष्कर्षों पर पहुँचाता है? हमारे सारे के सारे संचार साधन किस दिशा में बढ़ रहे हैं? क्या एक सद्यः स्वाधीन, विकासशील देश के संचार माध्यमों की यह भूमिका स्वस्थ और सन्तोषप्रद कही जा सकती है? क्या इनसे हमारे नागरिकों को मानसिकता की सही दिशा मिल रही है? क्या इनके इस तरह के अस्तित्व से इनकी अस्तित्वहीनता ही बेहतर नहीं होगी?

मेरी स्पष्ट मान्यता है कि रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, समाचार पत्र, पत्रिकाएँ और पुस्तकें सभी गलत हाथों और निश्चित स्वार्थों के घेरे में बन्द हैं। सरकार ने भी अपने दायित्व का निर्वाह करने के बजाय उसे अकर्मण्य अफसरशाही के पास गिरवी रख दिया है। सरकार से बाहर के जिन लोगों ने इन माध्यमों पर कब्जा कर रखा है उनके लिये तो किताब और शराब की बोतल के व्यवसाय में जैसे कोई फर्क ही नहीं है। मुनाफा ही तो कमाना है। शराब नहीं बेची, किताब बेच ली। परिणाम यह हुआ है कि जहाँ इन माध्यमों को अर्थ देने का प्रयत्न किया गया वहाँ ये रुचि-हीन, नीरस और उबाऊ हो जाने के कारण जरा-सा भी प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाये और जहाँ इन्हें खुला छोड़ा गया वहाँ मुनाफाखोरों के हाथ में पड़कर अवांछित दिशा की ओर मुड़ गये।

आज हमारे समस्त संचार साधन किसी स्वस्थ भूमिका का निर्वाह करने की बजाय चतुर्दिक अनैतिकता का जहर फैला रहे हैं। कागज की भीषण कमी के कारण स्कूली पाठ्य पुस्तकें तक नहीं छप पा रही हैं, परन्तु अपराध पत्रिकाओं, रोमाण्टिक उपन्यासों की बाढ़ आई हुई है। देश में सिनेमाघरों की कमी के कारण अच्छी फिल्मों को प्रदर्शन का अवसर नहीं मिल पा रहा है। वे डिब्बे में ही पड़ी-पड़ी सड़ रही हैं परन्तु अभूतपूर्व हिंसा वाली फिल्म एक ही थियेटर में तीन साल चल चुकी है। रेडियो, टी० वी० के अपने कार्यक्रम फिल्मी रचनाओं के हाथों मार खा रहे हैं। यह सब यही सिद्ध करता है कि अर्थशास्त्र का सुपरिचित नियम— 'बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को प्रचलन से हटा देती है' यहाँ भी लागू हो रहा है।

इसका उपचार क्या है?

सरकार यदि अपने नागरिकों के हित में मिलावटी खाद्य पदार्थों पर रोक लगा सकती है, उनके व्यापारियों को दण्डित कर सकती है, जन स्वास्थ्य के हित में शराबबन्दी की जा सकती है तो जन-भावनाओं को दूषित करने वाले साहित्य और फिल्मों पर रोक क्यों नहीं लगाई जा सकती है? आखिर प्रजातन्त्र और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का अर्थ यह तो नहीं है कि कुछेक स्वार्थी लोगों को पूरे देश की मानसिकता को विकृत करने की छूट दे दी जाय? निश्चय ही क्या अच्छा है और क्या बुरा, इसका निर्णय समझदार लोगों द्वारा करवाना होगा, वरना अफसरशाही जिस अविवेकपूर्ण ढंग से इस दायित्व का निर्वाह करती है उससे कोई लाभ नहीं होने वाला है, हानि भले ही हो। इस तरह के निर्णय के लिये अधिकारियों का चयन बहुत सूझ-बूझपूर्ण होना चाहिये, इस कार्य के लिये इन माध्यमों से सम्बद्ध लोगों को भी आगे आना होगा और स्तरीय रचनाओं के उदाहरण उपस्थित करने होंगे। पाठकों, दर्शकों से भी अनुचित, गलीज और हानिप्रद रचनाओं के विरुद्ध सक्रिय विरोध की अपेक्षा होगी।

यह तो हुई नकारात्मक भूमिका, सकारात्मक दृष्टि से आकाशवाणी और टेलीविजन के कार्यक्रमों का स्तर ऊँचा उठाया जाना प्रथम आवश्यकता होगी। कलात्मक और तकनीकी दृष्टि से ये माध्यम बहुत पिछड़े हुए हैं, यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथ्य स्वीकार किया ही जाना चाहिये, प्राथमिकताओं का भी निर्धारण हो जाना चाहिये, यह क्यों आवश्यक समझ लिया गया है कि पूरे पाँच दिन आकाशवाणी के सारे केन्द्र क्रिकेट कमेण्ट्री का प्रसारण करें ? खेल में रुचि अच्छी बात है पर इससे होने वाली हानियों को भी मद्देनजर रखा जाना चाहिये, फिल्म संगीत पर निर्भरता खत्म करने के साथ ही उसका उतना ही वजनदार विकल्प जुटाने के लिये तैयार रहा जाना चाहिये।

स्तरीय पुस्तकों-पत्रिकाओं के प्रकाशन और वितरण को हर स्तर पर प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। अच्छी अच्छी पुस्तकें लिखी और छापी जाने के बाद दीमकों को समर्पित न हो जायें। डाक की दरों में भी कमी करके भी इस दिशा में सहयोग दिया जा सकता है। प्रकाशकों को भी सीधे पाठक से जुड़ने का प्रयत्न करना चाहिये। यह भी सोचा जाना चाहिये कि अगर एक छोटे-से गाँव में 'थम्स अप' या 'रेड एण्ड व्हाइट' पहुँच सकते हैं तो प्रेमचन्द का उपन्यास क्यों नहीं ?

अच्छी फिल्मों के निर्माण को प्रोत्साहन के लिये तो फिल्म वित्त निगम जैसी संस्थाओं को अपना दायरा बढ़ाना ही होगा, थियेटरों की संख्या बढ़ाने व देश के दूर-दराज के इलाकों तक उन फिल्मों को पहुँचाने के अन्य साधनों पर भी गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करना होगा, घुमन्तु सिनेमाघर इस दिशा में एक साधन हो सकता है तो स्कूल-कालेजों में फिल्म सोसाइटियों की स्थापना दूसरा साधन।

अभी तो गाँव में चौथी कक्षा में पढ़ने वाला लड़का भी पड़ौसी की लड़की को आशिक की निगाहों से देखता है, प्रेम के ताने-बाने बुनता है, बड़ा होकर किसी फिल्म में देखे तस्कर की अनुकृति बनने की कल्पना करता है। अपराध कथाएँ उसे रातोंरात अमीर बनने और विलास करने के नवीनतम तरीके सिखाती है, भड़कीले विज्ञापन उसकी कामनाओं की आग को हवा देते हैं और इन सबके बीच सादा जीवन उच्च विचार के आदर्श, उदात्त जीवन मूल्य और महान् देश की परम्पराएँ—ये सब अपनी दशा पर आँसू बहाते हैं।

यह अत्यन्त आवश्यक है कि संचार माध्यमों द्वारा दी जा रही इस तरह की 'शिक्षा' को अविलम्ब रोका जाये अन्यथा एक स्थिति वह भी आ सकती है जब हम भारतवासी अपने स्वप्नों के भारत से बहुत दूर पहुँच जायँ और वहाँ से लौटना कतई सम्भव ही न रह जाये। क्या हम उसी स्थिति की प्रतीक्षा में हैं ?

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org